विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

मालवा की प्राचीन मुद्राएँ
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 3-4

भारतीय पुरालेखों की ऐतिहासिक परंपरा
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 5-4

कला संस्कृति में विज्ञान का सामंजस्य
ओम प्रकाश प्रसाद

पृष्ठ क्र. 7

आस्था की अभिव्यक्ति देवालय
संजय कुमार

पृष्ठ क्र. 8

विश्व के प्रथम ज्ञात गतिणज्ञ महात्मा लगध
राजेश्वर त्रिवेदी

मालवा की प्राचीन मुद्राएँ

विजय परिहार

प्राचीन भारतीय इतिहास वर्तमान की वैज्ञानिक रीति के अनुसार लिपिबद्ध नहीं है। यत्र-तत्र बिखरी हुई विभिन्न सामग्रियों को एकत्रित कर भारतीय इतिहास के प्राचीन वृत्तांतों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पुरातात्विक सामग्री ने इतिहास को सुगम रूप से लिखने में सदैव सहायता की है। इन सामग्रियों में उत्कीर्ण लेखों के उपरान्त मुद्रा का अपना प्रमुख स्थान है। भारतीय इतिहास में कितने ही काल ऐसे हैं, जिनका सम्पूर्ण ज्ञान तत्कालीन मुद्राओं से होता है। मुद्राओं के अध्ययन से अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं। मालवा क्षेत्र के प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण में मुद्राएँ अत्यधिक सहायक सिद्ध हुयी हैं। मालवा के पश्चिमी भाग (प्राचीन अवन्ती क्षेत्र) से बहुत बड़ी संख्या में जनपदीय मुद्राएँ उपलब्ध हुयी हैं। इनमें से अधिकांश उज्जैन नगर तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र से मिली हैं। अनूप (माहिष्मती व कसरावद क्षेत्र) जनपद से भी विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ मिली है। पूर्वी मालवा के भू-भाग में प्रमुख नगर विदिशा तथा वहां से लगभग 72 किलोमीटर उत्तर-पूर्व एरण (प्राचीन ऐरिकिण) नगर से भी विविध मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। कुरराय, भगिलाय व मदविक नामांकित मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं। उक्त नगरों से प्राप्त अधिकांश मुद्राएँ लेख विहीन हैं। क्वचित् मुद्राओं पर ही ब्राह्मी लिपि में नाम अंकित मिलते हैं। इन स्थलों मे मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिन पर उनके प्राचीन नगर नाम अंकित हैं। इसके अतिरिक्त इन स्थलों से स्थानीय स्वतंत्र शासकों द्वारा प्रचलित की गई मुद्राएँ भी उपलब्ध हैं। मालवा क्षेत्र से उपलब्ध मुद्राओं के आधार पर उनकी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक व कला सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की अमूल्य जानकारी ज्ञात होती है। ताम्राश्म युगीन संस्कृति के पश्चात् लोह युगीन संस्कृति का विकसित स्वरूप ज्ञात होता है, जिससे छोटे-छोटे जनपद किसी बड़े जनपद में अंतर्भूत दृष्टिगोचर होते हैं। यह स्थिति मालवा के सम्बन्ध में भी स्पष्टतः प्रकट है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व से आरम्भ होने वाले काल में महाजनपदों का उदय हुआ। इनमें षोडष महाजनपद प्रमुख थे। अंगुत्तर-निकाय में अवन्ती का नाम तथा महावस्तु में षोडष जनपदों की सूची में शिवि ओर दशार्ण नाम परिमाणित हुए है। यह संभावित है कि इन दोनों स्वतंत्र जनपदों में अवश्य ही मुद्राओं का प्रादुर्भाव हुआ होगा व मुद्रा निर्माण हेतु टकसाल घर भी रहे होंगे। परमेश्वरीलाल गुप्त व माईकल मिशिनर ने आहत रजत ताम्र मुद्राओं की रचना और प्रकार तथा चिह्नों के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया है कि कौन सी मुद्राएँ महाजन पद युग की है। उनके मतानुसार मौर्य युग से पूर्ववर्ती महाजन पद युग की आहत मुद्राएँ आकार में बड़ी और मोटाई में बहुत पतली हैं। इन मुद्राओं पर वृषभ, हस्ति, शस, मत्स्य, कूर्म, सूर्य तथा चक्र आदि विभिन्न प्रकार के चिन्ह अंकित हैं। छठीं शताब्दी ईसा पूर्व में अवन्ती का शासक चण्ड प्रद्योत था। इस क्षेत्र की प्राचीन मुद्राओं की विशेषता उज्जयिनी चिन्ह है।

यह संभव है किसी भी चिन्ह के प्रकार जिस स्थल पर सर्वाधिक संख्या में उपलब्ध हो वह स्थान उस चिन्ह का उद्गम या मूल स्थान होता है। उज्जयिनी के अतिरिक्त 'उज्जयिनी चिन्ह' विदिशा तथा एरण से प्राप्त मुद्राओं पर भी अंकित है। हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित के अनुसार विदिशा प्रद्योत के अधिकार में थी। माहिष्मती (आधुनिक महेश्वर) के समीप कसरावद के बिहार के उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं पर भी यह चिन्ह अंकित है। माहिष्मती तथा निमाड़ जो पूर्व में वीतिहोत्रों के आधिपत्य में रहे, प्रद्योत महासेन के अन्तर्गत हुए। कौशाम्बी से प्राप्त रजत-आहत मुद्राओं पर 'उज्जयिनी चिन्ह' विभिन्न रूपों में अंकित है। वत्सराज उदयन को बंदी बनाने के पश्चात् प्रद्योत के साम्राज्य का विस्तार कौशाम्बी तक हो गया हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। इस कथानक को कौशाम्बी से प्राप्त दो

मृण्मय ठीकरों पर चित्रित किया गया है। इसमें वत्सराज उदयन प्रद्योत के कारागृह से मुक्त होकर वासवदत्ता सहित हस्ति पर सवार होकर जा रहा है तथा प्रद्योत के सैनिकों जो उसका पीछा कर रहे है ललचाने हेतु स्वर्ण–निर्मित चौकोर मुद्राएँ जमीन पर फेंक रहा है, अत एव इन मुद्राओं से अवन्ती के शासक प्रद्योत द्वारा किये गये साम्राज्य विस्तार की सूचनाएँ मिलती हैं। संभवतः इस प्रवेश पर शिशुनाग वंशी राजाओं का राज्य 430 ई.पू. से 364 ई.पू.) रहा तथा उसके पश्चात् नन्दशासकों वे (324 से 364 ई.पू. तक) राज्य किया। इन मुद्राओं के आधार पर तत्व वंश के शासकों का साम्राज्य विस्तार मालवा तक होने की संभावना ज्ञात होती है। मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण मालवा शासित था। चन्द्र पुस मौर्य ने अशोक को उज्जयिनी का राज्यपाल नियुक्त किया था। अशोक के समय उज्जयिनी मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत प्रांत की राजधानी भी। चन्द्र मेरु अंकित मुद्राओं को डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल ने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा प्रसारित किया गया माना है। चन्द्रगुप्त ने ही नंदशासकों द्वारा प्रचलित पेरू प्रकार की मुद्राओं को उसमें चन्द्र का ओर अंकन करवाकर राजांक से विभूषित किया और मुद्रा निर्माण करने का अधिकार शासनान्तर्गत ले लिया गया। यद्यपि मौर्य कालीन मुद्राएँ विशुद्ध रजत निर्मित नहीं मिलती, परन्तु सम्मिश्रण के साथ विभिन्न तौल की मिलती है। मालवा से प्राप्त मौर्य कालीन मुद्राओं पर सूर्य, हर चक्र के अतिरिक्त चन्द्र मेरू या मेरू स्थित मयूर का अंकन मिलता है। विद्वानों ने सूर्य अंकित चिन्ह से मौर्य वंश का अर्थ निकाला है, परन्तु मयूर को मौर्य वंश का राज्य चिन्ह नहीं माना जा सकता। चन्द्र मेरू प्रकार की मुद्राएँ अत्यधिक मात्रा में मिलती है, इसलिये वही चिन्ह राजांक माना गया। इस निष्कर्ष पर विद्वान इस कारण पहुँचे है कि सोयोरा ताम्रपत्र पर और पटना के समीप कुम्हरार नामक स्थान पर मौर्य स्तम्भ पर मेरु चिन्ह अंकित है। बुलंदीबाग की खुदाई में एक मृण्मय तश्तरी मिली है, जिस पर चन्द्र का चिन्ह विद्यमान है। तीसरे वैज्ञानिक प्रणाली से परीक्षण के आधार पर चन्द्र चिन्हांकित मुद्राएँ मौर्य कालीन मानी गई है। इन प्रमाणों के आधार पर चन्द्र मेरू चिन्ह ही मौर्य साम्राज्य का राज्यांक माना गया है। इस प्रकार इन चिन्हों से चिन्हित मुद्राओं की इस मालवा क्षेत्र में प्राप्ति से यह विचित होता है कि यह सम्पूर्ण मालवा मौर्य शासन के अन्तर्गत था। मालवा के प्रमुख प्राचीन नगरों अथवा जनपदों की नामांकित मुद्राएँ उत्खनन व सर्वेक्षण के मध्य प्राप्त हुई हैं। नगर या जनपद नामांकित मुद्राओं में उज्जयिनी, एरण, कुरराय, भगिलाय, नंदिपुर, महिष्मती एवं विदिशा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन मुद्राओं से इन नगरों की राजनीतिक व व्यापारिक महत्ता का ज्ञान होता है। मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् सम्पूर्ण मालवा के प्रमुख जनपदों से स्थानीय स्वतंत्र शासकों की मुद्राएँ ढली–ताम्र अथवा ठप्पांकित ताम्र प्रचलित हुई। इनमें प्रमुख रूप से पश्चिमी मालवा के उज्जायिनी से स्थानीय स्वतंत्र शासकों रथि मदन, सवितृ, राञो दतस, मित्र नामांकित मुद्राएँ जैसे भूमि मित्र, भानु मित्र व महीमित्र। प्रारंभिक शक–शासकों हमुगम, वलाक, महु, दनु, सउमश की मुद्राएँ मिली हैं। विष्णु श्रीधर वाकणकर ने रथिमदन नामक स्वतंत्र शासक का समय अशोककालीन ब्राह्मी लिपि के आधार पर द्वितीय शती ई.पू. निर्धारित किया है। इस शासक की मुद्रा पर वृक्ष कूट चन्द्र, मेरु तथा मत्स्य कुंड अंकित है। द्वितीय मुद्रा पर सवितस (सवितृ) नाम अंकित है व अन्य चिन्ह चन्द्र बिन्दु व खड़ी मानवाकृति है। उनका मत है कि रथिमदन की मुद्रा पर अंकित चन्द्र मेरु चिन्ह प्रायः आन्ध्र–सातवाहन शासकों की मुद्राओं पर अंकित मिलता है। इससे यह संभावना है कि यह स्थानीय शासक आन्ध्र शासकों का सामंत रहा होगा। यह शासक किस वंश से संबंधित था अज्ञात है। रथि–मदन के उपरान्त सवितृ स्वतंत्र शासक रहा होगा। ये मित्र शासक संभवतः शुंग शासक के सामंत रहे होंगे। शक राजाओं के सम्बन्ध में प्रोफेसर कृष्णदत्त बाजपेयी का कथन है कि हमुगम, वलाक, महु, दनु तथा सउमश नामक शासकों ने ईसा पूर्व द्वितीय–प्रथम शताब्दियों में पश्चिमी मालवा के कुछ क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् पश्चिमी भारत में विदेशी शक–पहलवों को अपना अधिकार बढ़ाने का अवसर मिला। उज्जयिनी के स्थानीय स्वतंत्र शासक इन शकों से बराबर लोहा लेते रहे। इन शासकों में से सवितृ, रथि मदन तथा राञो दत्तस उल्लेखनीय है। उक्त शक–शासकों की मुद्राओं द्वारा इस बात की पुष्टि हुई है। इन शासकों ने उज्जयिनी जनपद के मुद्रा प्रकारों का ही अनुकरण किया। उन पर ब्राह्मी लिपि में उन्होंने अपने नाम अंकित करवाये।

भारतीय पुरालेखों की ऐतिहासिक परंपरा

ईशान अवस्थी

अभिलेख या शिलालेख के अध्ययन को 'पुरालेखशास्त्र' कहते हैं। अभिलेख मुहरों, स्तूपों, चट्टानों और ताम्रपत्रों पर मिलते हैं ये मन्दिर की दीवारों और ईंटों या मूर्तियों पर उत्कीर्ण होते थे। पुरातात्विक स्रोतों के अंतर्गत सबसे महत्वपूर्ण स्रोत अभिलेख हैं। अभिलेखों के अध्ययन को पुरालेखशास्त्र (एपिग्राफी) कहा जाता है। भारतीय अभिलेख विज्ञान में उल्लेखनीय प्रगति 1830 के दशक में हुयी, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक अधिकारी जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का अर्थ निकाला। इन लिपियों का उपयोग आरंभिक अभिलेखों और सिक्कों में किया गया है। प्रिंसेप को पता चला कि अधिकांश अभिलेखों और सिक्कों पर 'पियदस्सी' नामक किसी राजा का नाम लिखा है। कुछ अभिलेखों पर राजा का नाम 'अशोक' भी लिखा मिला। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक सर्वाधिक प्रसिद्ध शासकों में से एक थे। इस शोध से आरंभिक भारत के राजनीतिक इतिहास के अध्ययन को नयी दिशा मिली। भारतीय और यूरोपीय विद्वानों ने उपमहाद्वीप पर शासन करने वाले प्रमुख राजवंशों की वंशावलियों की पुनर्रचना के लिए विभिन्न भाषाओं में लिखे अभिलेखों और ग्रंथों का उपयोग किया। परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों तक उपमहाद्वीप के राजनीतिक इतिहास का एक सामान्य चित्र तैयार हो गया। 1877 ई. में कनिंघम ने 'कापर्स इन्सक्रिप्शन इंडिकेरम' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। इसमें मौर्य, मौर्योत्तर और गुप्तकाल के अभिलेखों का संग्रह है। हिन्दी में अभिलेखों का एक संस्करण डॉ. राजबली पाण्डेय ने प्रकाशित किया है।

अभी तक विभिन्न कालों और राजाओं के हजारों अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं। यद्यपि भारत का सबसे प्राचीनतम अभिलेख हडप्पाकालीन हैं, लेकिन अभी तक सैन्धव लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है। अतः भारत का प्राचीनतम् प्राप्त अभिलेख प्राग्मौर्ययुगीन पिपरहवा कलश लेख या पिपरहवा धातु–मंजूषा अभिलेख (सिद्धार्थनगर), बड़ली (अजमेर) से प्राप्त अभिलेख एवं बंगाल से प्राप्त महास्थान अभिलेख महत्वपूर्ण हैं। महास्थान शिलालेख एवं सोहगौरा ताम्रलेख प्राचीन भारत में अकाल से निपटने के लिए खाद्य आपूर्ति व्यवस्था (राशनिंग) पर प्रकाश डालता है। भगवान बुद्ध के अस्थि–अवशेष के सम्बन्ध में जानकारी देने वाला पिपरहवा कलश लेख प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में निर्गत यह अभिलेख सुकृति बंधुओं द्वारा स्थापित करवाया गया था।

प्राचीन भारतीय इतिहास की परम्परा में अभिलेख और शिलालेखों की परम्परा अति प्राचीन रही है, इसके अंकुरण और उषाकाल को बताना असंभव है। सम्राट अशोक ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में अपने धर्म, अपनी प्रशासनिक नीतियों, प्रशासनिक कर्मचारियों आदि को निर्देशित करने की व्याख्या करते हुए बड़े वैज्ञानिक ढ़ग से अपने अभिलेखों का स्थापित करवाया। अशोक के अभिलेखों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है– शिलालेख, स्तंभलेख और गुहालेख। शिलालेखों और स्तंभलेखों को दो उपश्रेणियों में रखा जाता है। चौदह शिलालेख सिलसिलेवार हैं, जिनको 'चतुर्दश शिलालेख' कहा जाता है। ये शिलालेख शाहबाजगढ़ी, मानसेहरा, कालसी, गिरनार, सोपारा, धौली और जौगढ़ में मिले हैं। कुछ फुटकर शिलालेख असम्बद्ध रूप में हैं और संक्षिप्त हैं। शायद इसीलिए

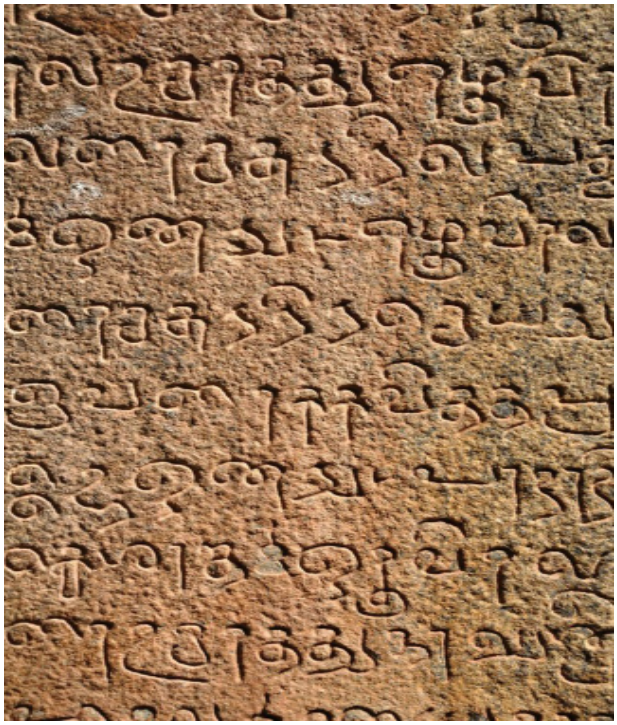

उन्हें 'लघु शिलालेख' कहा जाता है। इस प्रकार के शिलालेख रूपनाथ, सासाराम, बैराट, मास्की, सिद्धपुर, जटिंगरामेश्वर और ब्रह्मगिरि में पाये गये हैं। लघुशिलालेख में अशोक संघ शरण की महत्ता पर प्रकाश डालता है। अशोक के स्तम्भ लेखों में धर्म, धम्मघोष और लोकोपकारी कार्यों का वर्णन मिलता है। पंचम स्तम्भलेख (दिल्ली–टोपरा) में अहिंसा व्रत के अन्तर्गत सभी जीवों को अबध्य माना गया है। गिरनार के षष्ठम स्तम्भलेख में अशोक के प्रजा हित चिंतन के दायित्व के निर्वाह के विषय में लिखा गया है। इसमें कहा गया है कि 'सब समय, चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ, अन्तःपुर में रहूँ, शयनकक्ष में रहूँ, पशुशाला या पालकी में रहूँ, उद्यान में रहूँ, सर्वत्र प्रतिवेदक स्थित रह कर जनता के कष्टों से मुझे प्रत्यावेदना करें'। एक अभिलेख, जो हैदराबाद में मास्की नामक स्थान पर स्थित है, में अशोक के नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त गुजर्रा तथा

पानगुड्इया (मध्य प्रदेश) से प्राप्त लेखों में भी अशोक का नाम मिलता है। अन्य अभिलेखों में उन्हें देवताओं का प्रिय 'प्रियदर्शी' राजा कहा गया है। अशोक के अधिकांश अभिलेख मुख्यतः ब्राह्मी में हैं, जिससे भारत की हिंदी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती और मराठी, तमिल, तेलगु, कन्नड़ आदि भाषाओं की लिपियों का विकास हुआ। पाकिस्तान और अफगानिस्तान में पाये गये अशोक के कुछ अभिलेख खरोष्ठी तथा आरमेइक लिपि में हैं। 'खरोष्ठी लिपि' फारसी की भाँति दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी।

अशोक के बाद अभिलेखों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है– राजकीय अभिलेख और निजी अभिलेख। राजकीय अभिलेख या तो राजकवियों द्वारा लिखी गई प्रशस्तियाँ हैं या भूमि–अनुदान–पत्र। प्रशस्तियों का प्रसिद्ध उदाहरण हरिषेण द्वारा लिखित समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति अभिलेख (चौथी

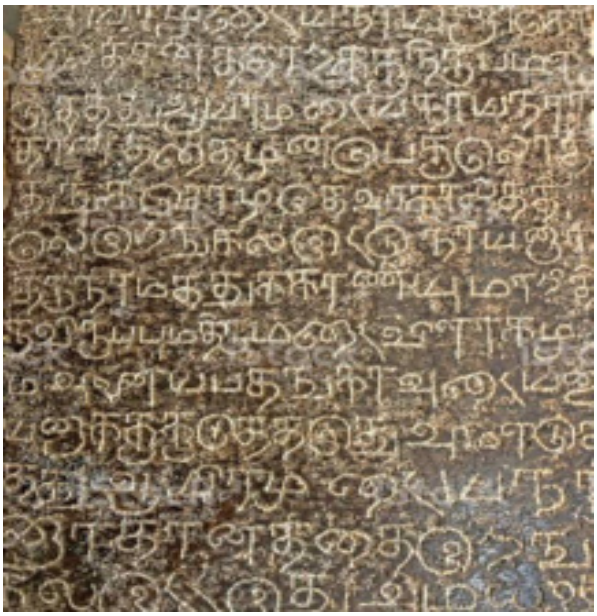

शताब्दी) है जो अशोक–स्तंभ पर उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजयों और उसकी नीतियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। इसी प्रकार राजा भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में उसकी उपलब्धियों का वर्णन है। इसके अलावा कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख (प्रथम शताब्दी ई.पू.) प्राकृत भाषा में लिखी प्राचीनतम प्रशस्ति है। शक क्षत्रप रुद्रदामन् प्रथम का जूनागढ़ अभिलेख (150 ई.) संस्कृत भाषा में लिखी प्राचीनतम प्रशस्ति है। गौतमी बलश्री का नासिक अभिलेख, स्कंदगुप्त का भितरी तथा जूनागढ़ लेख, मालवा नरेश यशोधर्मन का मन्दसौर अभिलेख, चालुक्य नरेश पुलकेशिन् द्वितीय का ऐहोल अभिलेख (634 ई.), बंगाल के शासक विजयसेन का देवपाड़ा अभिलेख भी महत्वपूर्ण हैं जिनसे प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वरूप खड़ा करने में विशेष सहायता मिलती है।

ताम्रलेखों में सबसे महत्वपूर्ण एवं प्राचीनतम ताम्रलेख गोरखपुर जिले सोहगौरा से 1893 ई. में प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त हूण शासक तोरमाण का एक ताम्रलेख लेख संजेली (गुजरात) से मिला है। सम्राट हर्षवर्धन ने मधुबन और बांसखेड़ा से प्राप्त हुआ है। भूमि–अनुदान–पत्र अधिकतर ताँबे की चादरों पर उत्कीर्ण हैं। इन अनुदान–पत्रों में भूमिखंडों की सीमाओं के उल्लेख के साथ–साथ उस अवसर का भी वर्णन मिलता है जब वह भूमिखंड दान में दिया गया। इसमें शासकों की उपलब्धियों का भी वर्णन मिलता है। नानाघाट अभिलेख में ब्राह्मणों एवं बौद्धों को भूमिदान दिये जाने का सबसे पहला उल्लेख प्राप्त होता है। पूर्वमध्यकाल के भूमि अनुदान–पत्र बड़ी संख्या में मिले हैं जिससे लगता है कि इस काल (600–1200 ई.) में सामन्ती अर्थव्यवस्था विद्यमान थी।

निजी अभिलेख प्रायः मंदिरों में या मूर्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पर खुदी हुई तिथियों से मंदिर निर्माण या मूर्ति प्रतिष्ठापन के समय का ज्ञान होता है। इसके अलावा यवन राजदूत हेलियोडोरस का बेसनगर (विदिशा) से प्राप्त गरुड़ स्तंभ लेख, वाराह प्रतिमा पर एरण (मध्य प्रदेश) से प्राप्त हूण राजा तोरमाण के लेख जैसे अभिलेख भी इतिहास–निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यवन राजदूत हेलियोडोरस का गरूड़ स्तम्भ लेख प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है। यह भागवत धर्म से सम्बन्धित पहला अभिलेखीय प्रमाण है। इन अभिलेखों से मूर्तिकला और वास्तुकला के विकास पर प्रकाश पड़ता है और तत्कालीन धार्मिक जीवन का ज्ञान होता है। प्राचीन भारत पर प्रकाश डालने वाले अभिलेख मुख्यतया पालि, प्राकृत और संस्कृत में मिलते हैं। गुप्तकाल के पहले के अधिकतर अभिलेख प्राकृत भाषा में हैं और उनमें ब्राह्मणेत्तर धार्मिक–संप्रदायों– जैन और बौद्ध धर्म का उल्लेख है। गुप्त एवं गुप्तोत्तरकाल में अधिकतर अभिलेख संस्कृत भाषा में हैं और उनमें विशेष रूप से ब्राह्मण धर्म का वर्णन है। प्राचीन भारतीय इतिहास, भूगोल आदि की प्रामाणिक जानकारी के लिए अभिलेख अमूल्य निधि हैं।

इन अभिलेखों के द्वारा तत्कालीन राजाओं की वंशावलियों और विजयों का ज्ञान होता है। अभिलेखों में प्रसंगतः सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। अभिलेखों से विभिन्न कालों की धार्मिक स्थिति का विवरण भी मिलता है। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि उसके काल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार था तथा वह स्वयं इसके सिद्धांतों से प्रभावित था। उदयगिरि के गुहालेखों में उड़ीसा में जैनमत के प्रचार का ज्ञान होता है। गुप्तकालीन अभिलेखों से पता चलता है कि गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के अनुयायी थे तथा उस काल में भागवत धर्म की प्रधानता थी। यह भी पता चलता है कि विभिन्न स्थानों पर सूर्य, शिव, शक्ति, गणेश आदि की पूजा होती थी। अभिलेखों के अध्ययन से धार्मिक सहिष्णुता और साम्प्रदायिक सद्भाव का भी परिचय मिलता है। अशोक ने अपने 12वें शिलालेख में आदेश दिया है कि सब मनुष्य एक दूसरे के धर्म को सुनें और सेवन करें। कभी–कभी अभिलेखों में व्यापारिक विज्ञापन भी मिलता है।

कला संस्कृति में विज्ञान का सामंजस्य

ओम प्रकाश प्रसाद

मनुष्य के हाथों निर्मित वह हर वस्तु कला या शिल्प है जो लय, सन्तुलन, अनुपात और सुसंगति आदि की स्थितियों में तैयार होती है, भले ही इसमें मस्तिष्क की सचेतन क्रियाशीलता न हो या उसने प्रेक्षक की अनुभूति तथा कल्पना में अपेक्षित भाव पैदा न किया हो। अपने चारों ओर अगणित सुन्दर प्रतीकों की रचना मनुष्य की कलात्मक साधना का उदाहरण है। चित्र का अर्थ पूरी प्रतिमा से है जिसको व्यक्त प्रतिमा कहते हैं। इसमें आधा अंग मुखपात्र अथवा कटिपर्यन्त चित्रित होता है। चित्राभास को पैंटिंग कहते हैं। यह किसी भित्ति, पट आदि पर चित्रित होती है। चित्र इस तरह मूर्तिकला का विभिन्न अंग है। शिल्पकार जिस पाषाण को अपने कौशल से छू देता है, वही सौन्दर्य का प्रतीक बन जाता है। यहाँ के कलाकारों या शिल्पियों ने पीढ़ी–दर–पीढ़ी यांत्रिकी और गणित के विज्ञान को सीखा, भवन सामग्रियों का ज्ञान प्राप्त किया, पत्थर काटने–तराशने और ईंट–पत्थर को सजाने की कला–विज्ञान को सीखने के बाद जो उपलब्धियाँ प्रस्तुत की, उन्हें देखने के बाद यह स्पष्ट होता है कि वैभवशाली भारत के प्रभुतासम्पन्न स्वरूप को और अधिक ऊँचा उठाने में शिल्प और स्थापत्यकला की भूमिका निःसन्देह अति महत्वपूर्ण रही है। कलात्मक ज्ञान विशेषज्ञ कलाकार एक शिलाखंड लेता है और उसे ही अपना विषय या विषय जगत बनाता है। शिलाखंड जैसे जड़ पदार्थ पर वह अपनी उत्सुकतापूर्ण एकाग्रता का प्रयोग करता है।

जब वह प्रस्तरखंड की रचना, तन्तुओं, रेखाओं आदि के अनुरूप अपने स्वप्न और बिम्ब उसमें देखता है तो धीरे–धीरे उसका अन्तर्ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। अब दोनों में पारस्परिक सम्प्रेषण शुरू होता है। इसके बाद प्रत्यक्ष ज्ञाता विषयी और विषय एकरूप होकर काम करने लगते हैं, उसका विभाजन समाप्त हो जाता है। इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में वस्तुतः विषयरूपी वह सामग्री भी सक्रिय सर्जनात्मक सहकर्मी की तरह काम करती रहती है। वह सामग्री बहुधा नए भाव और स्वप्न इंगित करती है तथा रूपगत साधनों एवं प्रक्रियाओं भी निरूपित करती है सर्जनात्मक प्रक्रिया के ही कतिपय क्षणों में स्वयं कलाकार उस विषय को अपने से पृथक मानकर देखता और उसका गुण–दोष विवेचन करता है। यह गुण–दोष विवेचन भी सर्जनात्मक प्रक्रिया का अंग होता है किन्तु ऐसे क्षणों में विषयरूपी कलाकार और उसके विषय एकरूप होकर कार्य नहीं करते। इस मानसिक हुन्द्र से कलाकार जब अनुकूल मुद्रा में बाहर निकलता है तो उसका स्वप्न या बिम्ब प्रत्यक्ष रूप में पूर्णतः प्रकट हो जाता है और एक कलावस्तु बन जाता है। कलाकार जो कुछ भी रचता है, उसमें प्रकृति या चरित्र तय करनेवाले नियमों का अनुसरण करता है।

अनुभव को जब सिद्धान्त रूप में सामान्यीकृत कर दिया जाता है तो वह विज्ञान कहलाता है। इसमें सुधार के लिए पुनः अभ्यास की जरूरत होती है। इसे ज्ञान की वह शाखा माना जाता जिसे प्राकृतिक तथ्यों एवं घटनाओं को वस्तुनिष्ठ तरीके से नियमानुसार अवलोकन तथा प्रयोगों द्वारा प्राप्त किया जाता है। उपकरणों के बिना विज्ञान सम्भव नहीं। पाषाण युग में ही मनुष्य अपने जीवन निर्वाह और भौतिक परिवेश को अपने हित में नियंत्रित करने हेतु पाषाण उपकरणों के रूप प्रौद्योगिकी विकसित कर रहा था। उपकरण (यंत्र, औजार) ज्ञान का एक ऐसा साधन है जिसे विभिन्न प्रकार के मापन का अवलोकन करने और उसे दर्ज करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। वैज्ञानिकों और अध्ययन से सम्बद्ध विषयों के बीच उपकरण एक विशेष बिचौलिया और मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को सशक्त बनाता है। उपकरणों के माध्यम से ही मनुष्य भौतिक यथार्थ का निर्माण करता है। प्रगति का महान मार्ग प्रशस्त करने में उपकरणों की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

विशुद्ध वैज्ञानिक और खोट वैज्ञानिक के बीच प्राचीनकाल के सन्दर्भ में स्पष्ट विभाजन करना कठिन है, क्योंकि विज्ञान और खोट विज्ञान एक–दूसरे से विकट तरीके से उलझे रहे हैं। खोट विज्ञान वास्तविक विज्ञान से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें बिना प्राकृतिक तथ्यों के विधिवत् अवलोकन के सिद्धांत मंत्रों और जादू–टोना के रूप में धारण कर लिए जाते और उन्हें ही सत्य माना जाता है चाहे वे वास्तविकता से परे क्यों न हों। अनेक उदाहरणों में यह पाया जाता है कि विशुद्ध वैज्ञानिक उपलब्धियाँ नकली वैज्ञानिक चिन्तन तथा प्रयोगों के माध्यम से ही हो पाई हैं। रत्नाकार नामक तंत्रग्रन्थ के लेखक नागार्जुन ने नालन्दा में खोट रासायनिक विधि से सोना बनाने का प्रयास किया किन्तु इसके लिए कोष्ठिकातंत्र, वक्रनाल (मुँहवाली फुंकनी), धमन (धौंकनी), लौहपत्र का जो प्रयोग किया उनका वैज्ञानिक

महत्व किसी–न–किसी रूप में आज भी है। कौटिल्य ने लिखा है 'जो पुरुष विज्ञान से सम्पन्न होता है वह स्वयं को भी जीत सकता है विज्ञान विश्व को भयमुक्त बनता है।' संस्कृति के लिए वैदिक संस्कृति का प्राचीनतम् शब्द है कृषि। यह शब्द अथर्ववेद में प्रयुक्त है। संस्कृत की 'कृष्' धातु से बने इस शब्द का अर्थ जोतना होता है। इसलिए कृषि का अर्थ हुआ जोतने का कार्य अथवा जोतने का फल या परिणाम पर लगभग इसी के साथ–साथ एक दूसरा शब्द संस्कृति भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और ऐतरेय ब्रह्माण्ड में हमें इसका प्रयोग मिलता है। ऐतरेय में जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, वहाँ इसका स्पष्ट अर्थ है अपने निजी 'स्व' की उन्नति इसका तात्पर्य हुआ कि अपनी जीवन भूमि को जोतना या संस्कृत करना, जब कि कृषि का सीधा–सीधा अर्थ यह भी है कि खेतों को जोतना और फसल उपजाना। इस तरह, कृषि का दूसरा अर्थ हो सकता है, जीवन भूमि को जोतना। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' तथा जर्मन शब्द 'कुल्टर' लैटिन के कल्ट से ही उत्पन्न है। 'कल्ट' शब्द का अर्थ होता है खेती करना, स्पष्ट है कि वह अर्थ कृषि के सम्बन्ध में ही है। पर बाद में जब इसका अर्थ–विस्तार हुआ तो इसका तात्पर्य हो गया अपनी जीवन भूमि को जोतना।

इस प्रकार कृषि तथा कल्चर दोनों ही शब्द भारतीय यूरोपीय जीवन, भाषा तथा विचार की एक जैसी पद्धति से व्युत्पन्न है। संस्कृति और विज्ञान का गहरा सम्बन्ध रहा है। पुरातत्वशास्त्र के माध्य इन पारिभाषिक विवेचनाओं के आधार पर हम पाते हैं कि कला के साथ संस्कृति और विज्ञान का गहरा सम्बन्ध रहा है। पुरातत्व शास्त्र के माध्यम से कला की जो भी धरोहर हमारे समक्ष मौजूद है उसे देखकर स्पष्ट होता है कि यहाँ के लोगों के जीवन में सिंधु काल से ही कला के प्रति विशेष लगाव रहा है। हड़प्पा से प्राप्त नृत्यमुद्रा में पुरुष धड़ और मोहनजोदड़ो से प्राप्त नृत्यमुद्रा में युवती को देख इस तथ्य को समझा जा सकता है।

मोहनजोदड़ो के घरों में सुन्दर स्नानागार, खुदाई से प्राप्त आभूषण, तराश कर बनाए गए हारों के मनके कड़े और चूड़ियाँ आदि इस बात के साक्षी है कि पुरुष और स्त्री दोनों ही सौन्दर्य और अलंकरण में पर्याप्त रूचि रखते थे। सिन्धु भाण्डों पर की काली लिखाई के अन्तर्गत रेखा और उपरेखाओं का सरल किन्तु दृढ़ प्रयोग हुआ है। पेड़–पौधे, फूल–पत्ती, उड़ते हुए पक्षी, तैरती हुई मछलियाँ, भागते और उछलते हुए इन हुए पशु इन विविध आकृतियों से यह लिखाई सुशोभित है। आड़ी–तिरछी, खड़ी पड़ी रेखाओं के सम्मिलन से शुल्बाकृतियों की जो सजावट की गई है उससे कलाकारों की बढ़ी–चढ़ी कुशलता के प्रमाण मिलते हैं।

वृक्ष–वनस्पति और पशु–पक्षी जगत के साथ भारतीय कला का अद्भुत सम्बन्ध रहा है। सिन्धुवृषभ भी कला की दृष्टि से बड़े जानदार है। वैदिककालीन लकड़ी एवं धातु के खिलौने, कच्ची दीवारों को विभिन्न रीतियों से रँगना और चित्रकला से सजाना एवं यज्ञ जैसे सामुदायिक धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए शिल्पकला, चित्रकला तथा स्थापत्यकला का प्रयोग– ये सारे कला एवं शिल्प के विषय से सम्बन्ध रखते हैं। यही पद्धति थोड़ा बहुत बदलाव के साथ आगे बढ़ती रही। चाक पर बड़ी खूबसूरती से बने भाण्डों पर फूलपत्ती और ज्यामितिक डिजाइनें कला की विशेषताएँ हैं। ई.पू. 5वीं शताब्दी से शिल्प का महत्व बढ़ने लगा। सौन्दर्य–विधान और रूप–समृद्धि की ओर इन शिल्पियों का विशेष लक्ष्य था। कला में वाय अलंकरण और सजावट की प्रवृत्ति को और भी विशेषताएँ प्राप्त हुई। एक श्रेणी या समुदाय के अन्तर्गत परिवारों के व्यक्ति इसी शिल्पगत व्यवसाय को अपनाकर उसमें दक्षता प्राप्त करते और नवीन आविष्कारों के द्वारा उस शिल्प की उन्नति और रक्षा करते थे। एक–एक श्रेणी शिल्प विशेष के लिए एक विद्यालय के रूप में परिणत हो गई जो पुश्त–दर–पुश्त नया जीवन प्राप्त करके बढ़ती चली जाती और शिल्पविशेष की अपनी साधना को भूत से भविष्य में आगे बढ़ाती चलती थी। नव–कर्मियों के लिए शिल्प सीखने और सिखाने के नियम भी इन श्रेणियों के द्वारा निश्चित कर दिए गए। अधिकांश में परिवार के अन्तर्गत पुत्र पिता से शिल्प की शिक्षा प्राप्त करता चलता था। मौर्यकाल में ईरान, यूनान और भारतीय संस्कृतियों का सम्मिलन और पारस्परिक आदान–प्रदान हुआ।

इस समय कला की मुख्य विशेषता धार्मिक एवं दार्शनिक अनुभूतियों का चिन्हों के द्वारा अंकन थी। मौर्यकालीन रजत सिक्कों पर सैकड़ों प्रकार के चिह्न आहत विधि से लगाए गए। सूर्य, षड्चक्र, चौत्य, वैजयन्ती, वृक्ष, वृषभ, द्विरद, मयूर, शशक, सरोवर आदि अनेक प्रकार की आकृतियों की रेखाएँ कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और निपुणता की सूचक हैं। स्थापत्यकला से भी चिह्नों की यह परम्परा प्राप्त होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा काष्ठ और ईंट से निर्मित पाटलिपुत्र का राजप्रासाद कला का अतिविशिष्ट उदाहरण था।

भारतीय कला को काठ, मिट्टी, ईंट, पुआल, गोबर तथा अन्य अस्थायी सामग्रियों के दायरे से बाहर निकालने में अशोक की भूमिका महत्वपूर्ण रहीं। उसने पहली बार पत्थरों पर और विराट आकारों एवं अनुपातों में कुछ ऐसी चीजें अंकित कर दी जो बाद के कालों में भी अपना अस्तित्व बनाए रहे। पाटलिपुत्र का स्तम्भयुक्त प्रांगण अशोक के निदेशन में बनाया गया था। स्तम्भ दो प्रकार के बने थे– धार्मिक और राजनीतिक धार्मिक स्तम्भों का विकास सम्भवतः प्राचीनतम वैदिक यूपों से हुआ जिनसे यज्ञ में बलि के लिए पशु बाँधे जाते थे। फिर इनका स्थान विष्णु आदि के स्मारक स्तम्भों ने ले लिया। राजनीतिक स्तम्भ विजयस्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ कहलाए। चट्टानों में नक्काशी प्रारम्भ हुई। अशोक द्वारा निर्मित करीब 35 फीट और उससे भी अधिक ऊँचाई के स्तम्भाभिलेख पॉलिशदार, ऊँचे सुगठित और आकाश में उन्मुक्त खड़े हैं। इनका ऊपरी भाग कुछ पतला होता गया है। इन स्तम्भों में चुनार से निकाले गए गुलाबी पत्थर पर शीशे जैसी दमक पैदा की गई। स्तम्भों का शिरोभाग शिल्पकला की पराकाष्ठा को सूचित करता है।

आस्था की अभिव्यक्ति देवालय

संजय कुमार

प्राचीन काल से भारत में मन्दिर सामाजिक केंद्र के महत्वपूर्ण स्थल मानें जाते रहे हैं। मंदिर ही ऐसे स्थान थे, जहाँ नृत्य, संगीत और युद्ध की कलाओं को सम्मानित किया जाता था। देश में आज भी ऐसे कई मंदिर मौजूद हैं, जो अतीत के शिल्पकारों की बेहतरीन शिल्प कला की याद दिलाते हैं। भारत मंदिरों का देश कहा जाता है। समूचे देश में विभिन्न देवी देवताओं के मन्दिर आज भी पाये जाते हैं। मंदिर भारतीय स्थापत्य कला का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। भारत में मंदिर निर्माण की परम्परा का गुप्तकाल में विकास हुआ था। मानव ने अपनी धार्मिक आस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिन प्रतीकों का निर्माण किया उनमें मूर्ति पूजा आरंभ हुई। ईश्वर के विविध रूपों में कल्पना की गई। देवी–देवताओं के मूर्त रूपों की पूजा हेतु जो सुंदर भवन निर्मित हुए वह भवन मंदिर कहलाए। देवालय के निमित्त 'मन्दिर' शब्द गुप्त काल में प्रचलित हुआ। अर्थशास्त्र, महाभारत एवं रामायण में मंदिर के लिए देवायतन, देवकुल, देवगृह तथा देवालय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। गुप्तकालीन साहित्य एवं लेखों में मंदिर के लिए प्रसाद व देवायतन आदि शब्द मिलते हैं।

मालव सम्वत् 529 ई. की मंदसौर प्रशस्ति में (जिसमें प्रथम कुमारगुप्त का उल्लेख मिलता है) दशपुर के सूर्य मंदिर के लिए 'दीप्तिरश्मि–प्रसाद' शब्द का उल्लेख हुआ है। इसके पीछे अवधारणा यह थी कि राजप्रसाद की तरह ही देवायतन का स्वरूप भी होना चाहिए। सिर्फ शास्त्रों में उत्तरी देवा लोगों के लिए प्रसाद तथा दक्षिणी देवालयों के लिए 'विमान' शब्द का उल्लेख मिलता है। देवालय के लिए 'विमान' शब्द का प्रचलन शास्त्रीय वर्णनों से ही स्पष्ट है। उदाहरणार्थ–समरांगणसूत्रधार के अनुसार देवता विमान (रथ) में बैठकर अंतरिक्ष में विचरण करते हैं। यही कारण है कि दक्षिण भारत में मंदिरों को अब भी 'विमान' कहा जाता है। अमरकोश के अनुसार 'रथ' शब्द 'विमान' का पर्यायवाचक है। विचारणीय है कि महाबलिपुरम् (मामल्लपुरम्) के पल्लव–मंदिरों को 'पल्लव–रथ' कहा जाता है। उत्तरी भारत के मंदिरों के लिए 'प्रासाद' के स्थान पर 'ओमंदिर' शब्द गुप्तकाल के उपरान्त से व्यवहृत होने लगा। उदाहरणार्थ–बाणकृत कादम्बरी एवं भट्टिकाव्य तथा कुमारसम्भव में 'मन्दिर' शब्द का सन्दर्भ प्राप्य है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग देवालय के अर्थ में न होकर आवास अथवा राजमहल के लिए हुआ है। गुप्तकाल के उपरान्त से अद्यपर्यन्त उत्तरी भारत के मंदिरों को बहुधा 'मंदिर' शब्द की संज्ञा दी जाती है। गुप्त–काल के प्रारम्भिक मंदिर सपाट छतवाले हैं। शिखर–निर्माण की परम्परा सर्वप्रथम गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुई। 'शिखर' शब्द का उल्लेख पहली बार मन्दसौर– प्रशस्ति (472–73 ई.) में हुआ है। यह समय गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध का प्रतिनिधित्व करता है। शिखरयुक्त मंदिर का प्रथम पुरातत्वीय उदाहरण देवगढ़ का मंदिर है, जो कि गुप्तकाल के उत्तर भाग में निर्मित हुआ था।

भारतीय उपमहाद्वीप तथा विश्व के अन्य भागों में स्थित मंदिर विभिन्न शैलियों में निर्मित हुये हैं। मंदिरों की नागर, द्रविड़ व कुछ अन्य शैलियाँ हैं। नागर शैली का प्रसार हिमालय से लेकर विन्ध्य पर्वत माला तक देखा जा सकता है। नागर शब्द नगर से बना है। सर्वप्रथम नगर में निर्माण होने के कारण इन्हें नागर की संज्ञा प्रदान की गयी। शिल्पशास्त्र के अनुसार नागर मंदिरों के आठ प्रमुख अंग है वास्तुशास्त्र के अनुसार नागर शैली के मंदिरों की पहचान आधार से लेकर सर्वोच्च अंश तक इसका चतुष्कोण होना है। विकसित नागर मंदिर में गर्भगृह, उसके समक्ष क्रमशः अन्तराल, मण्डप तथा अर्द्धमण्डप प्राप्त होते हैं। एक ही अक्ष पर एक दूसरे से संलग्न इन भागों का निर्माण किया जाता है। नागर शैली का क्षेत्र उत्तर भारत में नर्मदा नदी के उत्तरी क्षेत्र तक है। परंतु यह कहीं–कहीं अपनी सीमाओं से आगे भी विस्तारित हो गयी है। नागर शैली के मंदिरों में योजना तथा ऊँचाई को मापदंड रखा गया है। नागर वास्तुकला में वर्गाकार योजना के आरंभ होते ही दोनों कोनों पर कुछ उभरा हुआ भाग प्रकट हो जाता है जिसे 'अस्त' कहते हैं। इसमें चाण्ड़ी समतल छत से उठती हुई शिखा की प्रधानता पायी जाती है। यह शिखा कला उत्तर भारत में सातवीं शताब्दी के पश्चात् विकसित हुई अर्थात् परमार शासकों ने वास्तुकला के क्षेत्र में नागर शैली को प्रधानता देते हुए इस क्षेत्र में नागर शैली के मंदिर बनवाये। द्रविड़ शैली दक्षिण भारतीय हिन्दू स्थापत्य कला की तीन में से एक शैली है। यह शैली दक्षिण भारत में विकसित होने के कारण द्रविड़ शैली कहलाती है। तमिलनाडु व निकटवर्ती क्षेत्रों के अधिकांश मंदिर इसी श्रेणी के होते हैं। इसमें मंदिर का आधार भाग वर्गाकार होता है तथा गर्भगृह के उपर का भाग पिरामिडनुमा सीधा होता है, जिसमें अनेक मंजिलें होती हैं।

पुस्तक चर्चा/राजेश्वर त्रिवेदी

विश्व के प्रथम ज्ञात गणितज्ञ महात्मा लगध

वैदिक गणित भारत में कई हजारों वर्षों से जाना जाता है। वैदिक गणित शब्द उस गणित को इंगित करता है जिसका मूल वेदों में है। फिर, वेद क्या है? वेद का अर्थ है ज्ञान, जिसमें आध्यात्मिक ज्ञान और सांसारिक ज्ञान दोनों शामिल हैं। लगभग 1500 ईसा पूर्व के भारत के महान गणितज्ञ लगध ने वेदांग ज्योतिष की अपनी पुस्तक में कहा है कि ''एक मोर की शिखा की तरह और नागों के फण पर रत्नों की तरह, गणित सभी ज्ञान प्रणालियों के शीर्ष पर है।'' महात्मा लगध भारतीय ऋषि परंपरा के एक अग्रगण्य नाम है, जिन्होंने वशिष्ठ, मनु, पौलस्त्य, लोमश मरीचि, अंगिरा, व्यास, नारद, शौनक तथा भृगु आदि की गणितीय परंपरा को प्रशस्त किया है। वेदांग ज्योतिष के प्रथम गणितज्ञ के रूप में लगध को वैश्विक मान्यता प्राप्त है। लगध ऋग्वेदीय वेदांग ज्योतिष के कर्ता के रूप में सर्वमान्य हैं। शोधकर्ता उनका समय कलि सम्वत् 1301, विक्रम संवत् पूर्व 1743, या कहें कि ईसवी पूर्व 1800 निर्धारित करते हैं। लगध लिखित वेदांग ज्योतिष को ज्योतिर्विज्ञान का मूलग्रंथ माना जाता है। लगध के वेदांग ज्योतिष के बाद आगे के वक्त में वराहमिहिर, आर्यभट, भास्कराचार्य, ब्रह्मगुप्त आदि ने ज्योतिर्विज्ञान को और अधिक विकसित तथा समृद्ध किया। भारत विद्या के अध्येता मैक्समूलर के अनुसार लगध का यह ग्रंथ आकाशीय ग्रहों के बारे में वह ज्ञान प्रदान करता है जो वैदिक यज्ञादि के दिन–मुहूर्त निर्णय के लिए आवश्यक है।

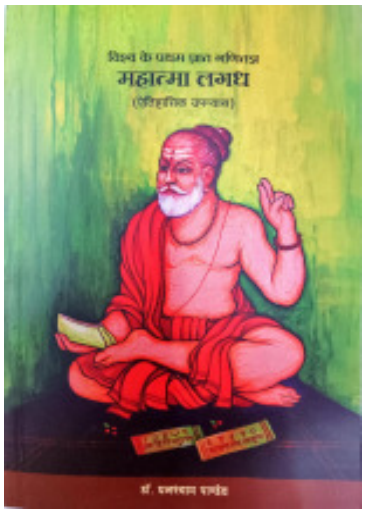

महात्मा लगध का जन्म स्थान के विषय में माना जाता है कि वे कश्मीर के अवंतिपुरा या वर्तमान में प्रचलित नाम अवंतिपोर के निवासी थे। किशोरावस्था में ही विद्यार्जन के लिए महर्षि संदीपनी के आश्रम उज्जैन आए थे। देश के अग्रणी गणितज्ञ–रचनाकार डॉ. घनश्याम पाण्डेय ने लगध को केंद्र में रखकर जिस ऐतिहासिक उपन्यास 'महात्मा लगध' को रचा है वह इस महान गणितज्ञ के जीवन और उनकी अमर कृति 'वेदांग ज्योतिष' का सप्रमाण विवरण प्रस्तुत करता है।

अंक विद्या पृथ्वी तल पर ज्ञान की समस्त शाखाओं में गणित का उद्भव प्राचीनतम है। आदिमानव जब से अपने दो नेत्रों तथा एक हाथ की पाँच अंगुलियों की पहचान करने लगा था, वही गणित का मूल स्रोत है। मानव सभ्यता एवं संस्कृति का प्राचीनतम प्रलेख वेदों में संचित है। चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन एवं वृहत् है। वैदिक काल के ऋषियों द्वारा देवी–देवताओं की प्रशस्ति में विविध प्रकार के छंदों में मंत्रों की रचना की गई थी। प्रसंगवश इन मंत्रों में गणित के कुछ मूल तत्व भी समाहित हैं, जो उस युग में प्रचलित गणित की कतिपय विधाओं को प्रकट करते हैं। यद्यपि 'गणित' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है, किन्तु यजुर्वेद की एक ऋचा (सत्यवाणी) में 'गणक' अर्थात् गणितज्ञ को सम्माननीय कहा गया है। यह सुविदित है कि वैदिक युग के गणितीय ज्ञान का बड़ा भाग तिरोहित हो गया था, जिसके नवीकरण में वेदांग ज्योतिष का महान योगदान रहा है, जो विश्व गणित के इतिहास की अमूल्य निधि है। 9 एवं 0 के संकेतों द्वारा वृहत एवं लघु संख्याओं वस्तुतः 1, 2 को व्यक्त करने की विधि ही समस्त गणित, विज्ञान तथा टेक्नालॉजी मूल में अन्तर्निहित है, जिसके नवीकरण का श्रेय महात्मा लगध को दिया जाता है। भारत वर्ष के इस अद्वितीय महान गणितीय योगदान की लाप्लास, हरमन हैंकल, अल्बर्ट आइन्स्टीन, ए.एल. बाशम प्रकृति लोकविश्रुत विद्वानों द्वारा भूरि–भूरि प्रशंसा की गई है, जिनके शब्दशः विवरण ग्रन्थ में प्रस्तुत किए गए हैं। लगभग 18 अध्याय वाली इस ऐतिहासिक औपन्यासिक कृति में लेखक घनश्याम पाण्डेय ने अपनी कल्पनाशीलता और शोध से लगध की जीवन यात्रा को बहुत ही विस्तृत ढंग से चित्रित करने का प्रयास किया है।

लगध की सुदूर कश्मीर से उज्जैन तक की यात्रा के सजीव वर्णन से शुरू होने वाली यह कृति महर्षि सांदीपनि के गुरुकुल वहाँ की शिक्षा पद्धति, परिवेश और उन समस्त बातों को उल्लेखित करती है जो ज्ञानार्जन के लिए आवश्यक रही है। वस्तुतः लगध द्वारा विरचित वेदांग ज्योतिष का मूल उद्देश्य गणित के अनुप्रयोग द्वारा एक ऐसी पंचांग पद्धति का विकास करना था जो सरल ढंग से चंद्र वर्ष, सौर वर्ष एवं सावन वर्ष के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सके। इस कार्य में लगध पूर्णतः सफल रहे। महान गणितज्ञ वेदांग ज्योतिष के रचयिता महात्मा लगध की जीवन यात्रा को यह कृति बहुत ही विस्तृत रूप से कहती है। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित यह उपन्यास लगध के जीवन का इतिवृत्तात्मक वर्णन नहीं है बल्कि इसके माध्यम से लगध के गणित और ज्योतिष सम्बन्धी योगदान को रेखांकित करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com